निम्वार्क वेदान्त का संक्षिप्त सार

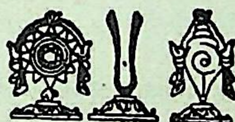


व्रजविदेही महन्त और चतुःसम्प्रदाय के श्री महन्त
श्री श्री १०८ स्वामी धनञ्जय दासजी काठिया बाबा
तर्क तर्क व्याकरण तीर्थ

निम्बार्क वेदान्त

का

संक्षिप्त सार



व्रजविदेही महन्त और चतुःसम्प्रदाय के श्री महन्त
श्री श्री १०८ स्वामी धनञ्जय दासजी काठिया बाबा
तर्क तर्कःव्याकरण तिर्थ

प्रकाशक :—

श्री स्वामी धनन्जय दासजी काठिया बाबा कर्त्तक प्रतिष्ठित

स्वामी सन्तदास निम्बार्क दर्शन समिति।

काठिया बाबार आश्रम, पो० सुखचर

जिला–२४ परगना, पश्चिम बंगाल।

—:०:—

मुद्रक:—

ए० बोस प्रेस

बोस हाउस, मोतीझील

मुजफ्फरपुर

भूमिका

वैष्णव चतुःसम्प्रदायों में श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय प्राचीनतम है। किन्तु इस सम्प्रदाय का वैदात्रिक सिद्धान्त और मतवाद जनसाधारण में, साधुसमाज और पण्डित समाज में भी विशेष प्रचारित नहीं है, बहुत कम व्यक्ति को ही निम्बार्क वेदान्त के विषय में ज्ञान है। लेकिन यह निम्बार्क वेदान्त एक पूर्णांग दर्शन है, जिसमें अन्य समस्त मतवादों का समन्वय होता है। जनसमाज में प्रचार के लिये इस पुस्तिका में निम्बार्क वेदान्त का सार मर्म संक्षेप में आलोचना की गई है। श्रीनिम्बार्काचार्य के मत में जीव, जगत्, ईश्वर और अक्षर ब्रह्म का इस चतुष्पाद स्वरूप, मोक्षस्वरूप और मोक्षलाभ का साधन, विशेष करके गुर्वाज्ञानुवृत्तियोग, शरणागतियोग आदि के विषय में सारतत्व संक्षेप में शास्त्रप्रमाण और युक्तिसहित आलोचित हुआ है। श्रीनिम्बार्काचार्य सम्मत स्वाभाविक भेदाभेद वाद भी इस पुस्तिका में विस्तृतरूप से युक्ति और शास्त्र प्रमाण के द्वारा प्रदर्शित हुआ है। जीव और जगत् की सत्यता, ब्रह्म का सगुणत्व और निर्गुणत्व आदि दार्शनिक तत्वसमूह का श्रीनिम्बार्काचार्य के मत में जिस प्रकार से समन्वय होता है, वह भी इस पुस्तिका में प्रदर्शन किया गया है और अन्त में निम्बार्क वेदान्त का अपूर्व महान् वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में भी अति संक्षेप में थोड़ा सा दिग्दर्शन किया गया है। आशा है कि इससे जन साधारण निम्बार्क वेदान्त और उनके मतवाद के विषय में साधारणभाव से ज्ञात हो सकेंगे।

निम्बार्कवेदान्त का सारतत्व जनसमाज को ज्ञात कराने के लिये ही इस पुस्तिका को लिखकर प्रकाशित किया गया है, इसलिये यह विनामूल्य ही वितरित होगा। इसके द्वारा निम्बार्क वेदान्त का सारतत्व को ज्ञात होकर सुधी समाज, साधुसमाज और जनसाधारण आनन्द लाभ करने से मेरा परिश्रम सफल हुआ समझूँगा।

विश्वकल्याण कामी

धनञ्जय दास

काठिया बाबार आश्रम

सुखचर,

२४ परगना (प० बंगाल)

फाल्गुन पुर्णिमा, संम्वत २०२७ (१२ मार्च, १९७१)

———

निम्बार्क वेदान्त का संक्षिप्त सार

ब्रह्म चतुष्पाद हैं

श्रुति स्मृति प्रमाणसे भगवान् वेदव्यास जो ब्रह्मसूत्र प्रणयन किये हैं, उसके भाष्य की रचना करके विभिन्न आचार्य विभिन्न मतवाद का प्रवर्तन किये हैं। भेदाभेद या द्वैताद्वैतवाद उन सब मतवादों में अन्यतम है। भगवान् श्री निम्बार्काचार्य इस मतवाद के प्रवर्तक हैं। इस भेदाभेदवाद में ब्रह्म के सहित जीव और जगत का भेदाभेद सम्बन्ध कहा गहा गया है। अतः प्रथमतः निम्बार्क भाष्यानुसार ब्रह्म, जीव और जगत् के स्वरूप के विषय में आलोचना की जा रही है।

श्रुति, ब्रह्मसूत्र और स्मृति के आधार पर श्री निम्बार्काचार्य का सिद्धान्त यह है कि ब्रह्म चतुष्पाद हैं। यथा—

१ ब्रह्म सत् चित् और आनन्दस्वरूप हैं। इन स्वरूपों में वे स्थूल, सूक्ष्म, ह्रस्व दीर्घादि तथा कर्तृत्वादि सर्वप्रकार धर्मरहित हैं। वे एक अद्वितीय हैं और निर्गुण अक्षरादि नामों से आख्यात होते हैं।

२ सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही अचिन्त्य विचित्रसंस्थान-सम्पन्न अनंत नाम रूपविशिष्ट इस जगत की सृष्टि, स्थिति और लय साधन करते हैं। वे ही इस जगत के निमित और उपादान उभय कारण हैं। अतः वे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान सर्वनियन्ता, सर्वव्यापी, सर्वरूपी हैं। इस रूप में उनकी ईश्वर संज्ञा होती हैं।

३ ब्रह्म स्वयं ही स्वीय स्वरूपभूत चित् को अनंतरूप से प्रसारण करके अपने आनंद स्वरूप से ही अनंतरूप में प्रकाशित अनंत जगत के बृहत्, बृहत्तर, बृहत्तम, क्षुद्र, क्षुद्रतम प्रत्येक अंश में पृथक पृथक् रूप से अनुप्रविष्ट हुए हैं। पृथक रूप से प्रविष्ट उनके चिदंशसमूह ही जीव नाम से आख्यात होते हैं।

४ ब्रह्म के जिन अनंत रूपों के प्रत्येक अंश में उनके अनंत चिदंश प्रविष्ट हुए हैं उसी अनंत रूपों का नाम ही जगत है।

इन चारों रूपों में ही ब्रह्म पूर्ण हैं। इसलिए ब्रह्म को चतुष्पाद कहा जाता है। अब ब्रह्म को इन चारों रूपों में (चतुष्पाद में) श्रुति, ब्रह्मसूत्र और निम्बार्कभाष्य का प्रमाण संक्षेप में दिखाये जा रहे हैं:—

१. अक्षर स्वरूप में प्रमाण यथा :—

"एतद्वै तदक्षरं गार्गि! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूल मनण्व ह्रस्वमदीर्घम्……" (बृ० ३।८।८)—हे गार्गि! ब्राह्मण उनको अक्षर कहे हैं, वे स्थूल नहीं हैं, सूक्ष्म नहीं हैं, ह्रस्व नहीं हैं, दीर्घ नहीं हैं…। "सदेव सोम्येदमग्र आसादेकमेवा द्वितीयम्" (छा० ६।२।१)—हे सोम्य! सृष्टि से पूर्व यह जगत् एक अद्वितीय सत् स्वरूप ही था। "सत्यम् ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१)—ब्रह्म सत्य (सत्) स्वरूप, ज्ञान (चित्) स्वरूप और अनंत हैं। "आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्" (तै० ३।६)—(भृगु) ज्ञात हुए हैं कि आनन्द ही ब्रह्म हैं। "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० ३.६.२०)—ब्रह्म विज्ञान स्वरूप और आनन्द स्वरूप हैं इत्यादि। अक्षर ब्रह्म का स्वरूप के विषय में "अक्षरंमम्बरान्तधृतेः" (१।३।१०) इत्यादि और उनके साधन के विषय में "अक्षरधियांत्ववरोध (३।३।३३) इत्यादि सूत्र में और उनके निम्बार्कभाष्य में उपदेश हैं।

२. ईश्वर स्वरूप में प्रमाण यथा—"यतो वा इमानिभूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्य भिसंविशन्ति ..... तद्ब्रह्म" (तै० ३।१)—जिनसे समस्त भूत जात होते हैं, जात होकर जिनके द्वारा जीवित रहते हैं और जिनमें प्रविष्ट होते हैं तथा लीन होते हैं वे ही ब्रह्म हैं। इस श्रुति में ब्रह्म को जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय का कारण कहने से वे अवश्य ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सर्व-नियन्ता इत्यादि हैं। श्रुति ने यह स्पष्ट रूप से कहा है, यथा—
"यः सर्वज्ञः सर्ववित्" (मु० १।१।९) "स विश्वकृत विश्ववित्" (श्वे० ६।१६) "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः" (वृ.४।४ २२) इत्यादि।

भगवान् वेद व्यास ने भी "जन्माद्यस्य यतः (१।१।२) ब्रह्म-सूत्र में यह ही कहा है। इस सूत्र का निम्बार्कभाष्य में यह स्पष्ट रूप से उक्त हुआ है, यथा—"अस्याचिन्त्य विचित्रसंस्थानसंपन्नस्यासंख्यय नाम—रूपादि विशेषाश्रयस्या चिन्त्यरूपस्य विश्वस्य सृष्टि स्थिति लया यस्मात् सर्वज्ञाद्यनन्तगुणाश्रयाद् ब्रह्मेश कालादि नियन्तुर्भगवतो भवन्ति, तदेव पूर्वोक्तनिर्वचनविषयं ब्रह्म—इस अचिन्त्य विचित्र संस्थान विशिष्ट असंख्य नाम रूपादि का आश्रय अचिन्त्य स्वरूप विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय जिन सर्वज्ञादि अनन्त गुणों का आश्रय, ब्रह्मा, शिव और कालादि का भी नियंत्रण भगवान् से होता है, वे ही पूर्वोक्त निर्वचन विषय ब्रह्म हैं।

३. जीवस्वरूप में प्रमाण, यथा—"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" (छा० ६।२।३ —सद्ब्रह्म ईक्षण किये हैं कि हम बहु होंगे—बहु रूप में सृष्ट होंगे। इसके बाद तेज की सृष्टि की। फिर श्रुति कहीं है कि—उसके बाद जल और पृथ्वी की सृष्टि हुई। फिर

कहीं—"तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति, सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैवजीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्" (छा० ६।३।३) —पूर्वोक्त भूतयोनि देवता उन तेज, जल और पृथ्वी इन तीनों का एक एक को तीनों के द्वारा मिलायेंगे (त्र्यात्मक त्र्यात्मक करेंगे) इस प्रकार संकल्प करके उन तीनों के अन्दर इस जीवात्म रूप से प्रविष्ट होकर नाम रूपों को प्रकटित किये। ऐसा ही तैतिरीय श्रुति भी कही है, यथा:—सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति, स तपोऽतप्यत तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं कि च तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६।१) "तदात्मानं स्वयमकुरुत" (तै० २।७)। वे (परमात्मा) कामना की है कि हम बहु होंगे, उत्पन्न होंगे। वे तपस्या की, तपस्या करके इसमें, जो कुछ चराचर जगत् में है सबकी सृष्टि की, सृष्टि करके उन सब में प्रविष्ट हुए। प्रवेश करके सत् (मूर्त) न्यत् (अमूर्त) हुए। वे स्वयं अपने को ही इस प्रकार किये। इन सब वाक्यों में ब्रह्म ही जीव रूप से प्रकाशित हुए हैं—यह उक्त हुआ है।

निम्बार्क भाष्यानुसार जीवको "चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात्" (२।३।१६) ब्रह्मसूत्र में शरीर धारण और त्याग के योग्य होते हुए जन्ममृत्यु रहित, "नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्चताभ्यः" (२।३।१७) सूत्र में नित्य, 'ज्ञोऽतएव' (१।३।१८) सूत्र में ज्ञाता, "उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्" (२।३।१९) इत्यादि सूत्रों में अणु, "कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्" (२।३।३२) इत्यादि सूत्रों में कर्ता "अंशोनानाव्यपदेशादन्यथाचापि" ...(२।३।४२) सूत्र में ब्रह्म का अंश कहा गया है और "परात्तु तच्छ्रुतेः" (२।३।४०) सूत्र में जीव का कर्तृत्व ब्रह्म के अधीन कहा गया है। एव विज्ञानमयः पुरुषः" (बृ० २।१।१७) विज्ञानमयश्चात्मा (मु. ३।२।७) इत्यादि श्रुति में जीवको ज्ञानस्वरूप भी कहा

गया है। जिस प्रकार जीवस्वरूप को श्री निम्बार्काचार्य ने एक ही श्लोक में कहा है, यथाः—

"ज्ञानस्वरूपञ्च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम् ।
अणुं ही जीवं प्रतिदेहभिन्न ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः ॥
वेदान्तकरमधेनु १)

—श्रुति और महर्षिगण जीव को ज्ञानस्वरूप, श्रीहरि का आधीन, शरीरधारण और परित्याग के योग्य, अणु, ज्ञातृत्वधर्मयुक्त (ज्ञाता) प्रत्येक देह में भिन्न भिन्न अतः अनंत कहे हैं। "तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यापदेशः प्राज्ञवत (२–३–२८) सूत्र में कहे हैं कि जीव ज्ञान रूप गुण के द्वारा विभु होने से भी स्वरूपतः अणु है। किन्तु ब्रह्म स्वरूपतः और गुणतः उभयतः ही बिभु है।

४ ब्रह्म ही जो जगत् रूप से प्रकाशित हुए हैं सो उपरोक्त "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति", "सोऽकामयत् बहुस्यां प्रजायेयेति" इत्यादि श्रुति में उक्त हुआ है। ब्रह्म जो स्वयं ही जगतरूप में परिणाम प्राप्त हुए हैं, सो "आत्मकृतेः परिणामात्" (१–४–२६) ब्रह्म सूत्र के निम्बार्क भाष्य में स्पष्टरूप से कहा गया है, यथा "सर्वज्ञ सर्वशक्ति ब्रह्म स्वशक्ति विक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणामभ्य अव्याकृतेन स्वरूपेण शक्तिमता कृतिमता परिणामभ्य अव्याकृतेन स्वरूपेण शक्तिमता कृतिमता परिणतमेव भवति"—सर्वज्ञ शक्तिमान् ब्रह्म स्वशक्ति को विक्षेप करके अपने को ही जगदाकार में परिणमित किये हैं, अव्याकृत स्वरूप में रहकर ही अपनी शक्ति और कृति के द्वारा वे जगतरूप में परिणाम प्राप्त हुए हैं।

इन सब वाक्यों में यह कहा गया है कि—ब्रह्म ही जगद्रूपी हुइ हैं।

इस प्रकार से श्रुति, ब्रह्मसूत्र और निम्बार्क भाष्य में ब्रह्म का जीव जगत् ईश्वर और अक्षर ये चारो रूप कहे गये हैं। श्रुति ने और भी स्पष्ट रूप से ब्रह्म को चतुष्पाद कहा है। जैसा—"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यांमृतं दिवि"—यह विश्वभूतसमूह (निखिल जगत् अनन्त मस्तक पुरुष का एक पाद है। अन्य तीन पाद (अक्षर, ईश्वर और जीवपाद) अमृत (मृत्यु धर्म रहित) स्वप्रकाशरूप में (चिद्रूप में) वर्तमान हैं।

श्वेताश्वतर श्रुति ने भी ब्रह्म का इस चतुष्पाद की बात कही है यथा—"उद्गीतमेतत्परमन्तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठिताऽक्षरम्य" (श्वे० १।७)—यह परब्रह्म वेदान्त में वर्णित हैं, उनमें तीन (जीव, जगत् और ईश्वर ये तीन) सुप्रतिष्ठित हैं और वे अक्षररूप से भी वर्तमान हैं।

यद्यपि इस वाक्य में केवलमात्र अक्षरवाद का ही स्पष्ट रूप से उल्लेख है, अन्य तीन रूपों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि निम्न लिखित श्रुति में स्पष्ट रूप से उल्लेख है, यथा—

'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ... त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्।" (श्वे० १-९

—ज्ञ (सर्वज्ञ) ईश्वर अज्ञ (असर्वज्ञ—अल्पज्ञ) अनीश्वर जीव, ये उभय ही अज (जनरहित) हैं और भोक्ता (जीव) का भोग्य विषय सम्पादन मे नियुक्ता प्रकृति भी अजा है। जब आत्मा (जीव)

उपाधिरूपी ब्रह्म को प्राप्त होता है, तब (ब्रह्म भिन्न हो जाने से) वह भी अनन्त, विश्वरूप और अकर्ता हो जाता है।

उपरोक्त प्रकार से श्रुति, ब्रह्मसूत्र और निम्बार्कभाष्य में ब्रह्म का जगत्पाद, जीवपाद, ईश्वरपाद और अक्षरपाद कहे गये हैं। और "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ (बृ० ५।१।१)—वह (इन्द्रियातीत कारण रूप ब्रह्म) पूर्ण हैं, यह (कार्यात्मक जगत्रूप ब्रह्म) भी पूर्ण हैं, पूर्ण से (पूर्ण कारण रूप, ब्रह्म से) पूर्ण (पूर्ण जगत् रूप कार्य) अभिव्यक्त होता है, पूर्ण रूप इस कार्यात्मक जगत् का पूर्णत्व को ग्रहण करके (प्रलय काल में) पूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट रहते हैं" इस वाक्य में ब्रह्म जो उस प्रकार चतुष्पाद (चतुर्विध रूपी) होकर भी सर्वत्र सर्वदा सर्वरूप से पूर्ण हैं सो भी स्पष्टरूप से श्रुति ने कही हैं।

श्री निम्बार्काचार्य का भेदाभेद (द्वैताद्वैत) वाद

अतः विचार करके देखा जाय तो यह ही निश्चय होता है कि जीव और जगत् रूप में ब्रह्म प्रकाशित होकर भी जब तदतीत रूप से वर्तमान हैं, तब जीव और जगत् से वे भिन्न हैं, फिर जीव और जगत् जब उन्हीं का प्रकाशित रूप हैं तब जीव और जगत् से वे अभिन्न भी हैं। अतः ब्रह्म और जीव जगत् में परस्पर भेद और अभेद दोनों ही हैं। इसी को ही भेदाभेद या द्वैताद्वैत सिद्धान्त कहा जाता है। भगवान् श्री निम्बार्काचार्य इस भेदाभेदवाद का प्रवर्तक हैं।

इस भेदाभेदवाद को आचार्यपाद ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में किस प्रकार से स्थापन किया है, सो ही अब दिखाया जा रहा है :—

ब्रह्मसूत्र का २।१।१३ सूत्र के निम्बार्कभाष्य में कहे हैं कि—जैसा समुद्र और तरंग अभिन्न होते हुए भी भिन्न हैं, जैसा सूर्य और उनकी प्रभा अभिन्न होते हुए भी भिन्न हैं, ऐसा ही भोक्ता जीव और नियन्ता ब्रह्म अभिन्न होते हुए भी भिन्न हैं (अविभागोऽपि समुद्र-तरंगयोरिव, सूर्यतत्प्रभयोरिव तयोविभागःस्यात्) ।

२।१।२२ सूत्रभाष्य में कहे हैं कि – जैसा वज्रवैदुर्यादि पृथ्वी का विकार होने से पृथ्वी से अभिन्न होते हुए भो भिन्न है, ऐसा जीव भी ब्रह्म से अभिन्न होते हुए भी स्वीय स्वरुप से भिन्न हैं (भूविकार-वज्रवैदुर्यादिवद् ब्रह्माभिन्नोऽपि क्षेत्रज्ञः स्वरुपतोभिन्न एव) ।

२।३।४२ सूत्र के भाष्य में कहे हैं कि—अंशांशिभाव रहने से जीव और परमात्मा में भेदाभेद दिखा रहे हैं—जीव परमात्मा का अंश है, कारण "ज्ञ (सर्वज्ञ) ईश (ईश्वर) और अज्ञ (असर्वज्ञ) अनीश (जीव) दोनों हीं अज (जन्मरहित–नित्य) हैं—इस श्रुति वाक्य में जीव और ईश्वर में भेद उपदिष्ट हुआ है (अंशांशिभावाज्जीवपरमा-त्मनोर्भेदाभेदौ दर्शयति—परमात्मनोऽशः "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशा वित्यादि भेदव्यपदेशात् "तत्त्वमसी" त्याध्यभेदव्यापदेशाच्च) ।

३।२।२८ सूत्र के भाष्य में कहे हैं कि—जीव और पुरुषोत्तम में भी ऐसा ही (भेदाभेद) सम्बन्ध जानना चाहिये, कारण उन दोनों में भेद और अभेद दोनों ही कहे गये हैं। जैसा, प्रभा और प्रभावान् इन दोनों में भेदाभेद सम्बन्ध हैं ऐसा ही उन दोनों में भेदाभेद संबध

है। "अतोऽनन्तेन" (३।२।२६) सूत्र से केवल भेद की शंका नहीं करना यह भाव है (जीव पुरुषोत्तमयोरपि तथा सम्बन्धो ज्ञेयः उभय-व्यपदेशात् प्रभातद्वतोरिव। अतोऽनन्तेनेत्यनेन केवल भेदो न शंक्य इति भावः)।

इस प्रकार से श्री निम्बार्काचार्य ने ब्रह्म और जीव में भेदाभेद संबंध कहा है तथा यह भी कहा है कि जीव ब्रह्म का अंश होने से यह भेदाभेद संबंध भी नित्य और स्वाभाविक है।

अब जगत् और ब्रह्म में जो भेदाभेद सम्बन्ध है सो किस प्रकार से आचार्यपादने प्रदर्शित किया है सो देखा जाय--

"तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः" (ब्र० सू० २।१।१४) सूत्र के निम्बार्क भाष्य में कहा गया है कि —कारण से कार्य का अनन्यत्व (अभेद) है, अत्यन्त भिन्नत्व (भेद) नहीं है। "मृत्तिका ही सत्य है, घट शरावादि बिकार समूह नाम के द्वारा ही पृथक् है," "यह चराचर विश्व ब्रह्मात्मक है," ब्रह्म सत्य हैं, तुम ब्रह्म ही हो," यह प्रकाशित जगत् सब हो ब्रह्म हैं" इत्यादि श्रुतियां ही उस में प्रमाण हैं (कार्यस्य कारणानन्यत्वमस्ति, नत्वत्यन्तभिन्नत्वम्, कुतः ? "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्," "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्," तत्सत्यं तत्वमसि," "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादिभ्यः) २।१।१५ से २।१।१६ सूत्रों के निम्बार्कभाष्य में भी विभिन्न प्रमाणों और दृष्टान्तों के द्वारा कारण ब्रह्म से कार्य जगत् का अभेद प्रदर्शन किया हैं।

"जन्माद्यस्य यतः" (१।१।२), "प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीतिच भूयः (३।२।२२) इत्यादि सूत्रों के भाष्य में ब्रह्म को

जगत् की सृष्टि स्थिति लयकर्ता और जगदतीत कहने से ब्रह्म और जगत् में भेद भी कहा गया है। अत ब्रह्म और जगत् में भेदाभेद सम्बन्ध है।

ब्रह्म और जगत् में जो भेदाभेद सम्बन्ध है सो 'उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्" (३।२।२७) इस एक ही सूत्र उसके भाष्य में स्पष्ट रूप से कहा है, यथा—"मूर्तामूर्तस्याप्रतिषेध्यत्वं द्रढ़यति —मूर्तामूर्तादिकं विश्वं स्वकारणे भिन्नाभिन्नसम्बन्धेन स्थातुमर्हति भेदाभेदव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्"—ब्रह्म का मूर्त और अमूर्त उभय-रूपता का जो प्रतिषेध नहीं है, इसको दृढ़ करने के लिये सूत्रकार कह रहे हैं कि—जैसा सर्प का बलयाकार अंशअशी कारणभूत सर्प में भिन्नाभिन्न सम्बन्ध से स्थित रहता है, ऐसा ही मूर्त (स्थूल) और अमूर्त (सूक्ष्म) विश्व (जगत्) अपना कारण ब्रह्म में भिन्नाभिन्न सम्बन्ध से रहता है, कारण ब्रह्म और विश्व में भेद और अभेद दोनो ही श्रुति ने उपदेश किया हैं। ("यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै० २।२), "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" (वृ० ३।७।३) इत्यादि श्रुति में ब्रह्म और विश्व में भेद और "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छा० ३।१४।१), "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्") छा० ६।८।७)इत्यादि श्रुति में अभेद उपदिष्ट हुआ है।)

भेदाभेदवाद समस्त शास्त्रों का सिद्धान्त है

समस्त शास्त्रों की आलोचना करने से देखा जायगा कि सब में ही यह भेदाभेद उपदिष्ट हुआ है। यहां कुछ शास्त्र वाक्य उद्धृत किया जा रहा है। यथा—"अन्यै च संस्कृतात्मानो विधिना-

भिहितेन ते। यजन्ति तन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्त्येक मूर्त्तिकम् ॥" (भा० १०।४०।७)—अपर संस्कृताल (निर्मलचित्त) उपासक गण उपदिष्ट विधि के अनुसार बहुमूर्ति एकमूर्तिरूपी आपकी उपासना करते हैं। "ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥" (गीता ९।१५)—अन्य साधक गण विश्वरूपी हमको ज्ञानयज्ञ के द्वारा यजना करके एकरूप से पृथक् रूप से बहुप्रकार उपासना करते हैं।

"ॐ नमो वासुदेवाय तस्मै भगवते सदा। व्यतिरिक्तं न यस्यास्ति व्यतिरिक्तोऽखिलस्य यः ॥" (वि० पु० १।१९।७८)—जिनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, जो अखिल जगत् से अतिरिक्त हैं उन वासुदेव को सदा नमस्कार है।

"नित्यानित्यप्रपंचात्मन् निष्प्रपंचामलाश्रितः ।
एकानेक नमस्तुभ्यं वासुदेवादिकारण ॥"
(वि० पु० १।२०।१२)

"यः स्थूलसूक्ष्मः प्रकट प्रकाशो यः सर्वभूतो न च सर्वभूतः।
विश्वं यतश्चैत दविश्वहेतो र्नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय ॥
(वि० पु० १।२०।१३)

—हे नित्य अनित्य प्रपंचात्मन्! हे प्रपंचातीतस्वरूप! हे निर्मलात्म-ज्ञानियों के आश्रय! हे एक! हे अनेक! हे आदि कारण! हे वासुदेव! आपको नमस्कार है। (१२) जो स्थूल भी हैं, सूक्ष्म भी हैं, सर्वरूप में जिनका प्रकाश है, जो सर्व-भूत हैं सर्वभूत नहीं भी हैं, जिनसे यह विश्व उत्पन्न हुआ है, जो विश्व का हेतु नहीं, उन पुरुषोत्तम को नमस्कार है। (१३)

"अन्तर्यामी जगद्रूपी सर्वसाक्षी निरंजनः।
भिन्नाभिन्नस्वरूपेण स्थितो वै परमेश्वरः॥"

(वृ० ना० पु० ३।२७)

—परमेश्वर अन्तर्यामी, जगद्रूपी, सर्वसाक्षी और निर्मलस्वरुप हैं, वे भिन्नाभिन्न स्वरुप से स्थित हैं।

"द्वैत चैव तथा द्वैतं द्वैताद्वैतं तथैव च।
न द्वैतंनापिचाद्वैतमिति तत्पारमार्थिकम्॥" (दक्षसं. ७।४८)

—द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत तीनों प्रकार मंत्र हैं, इनमें द्वैत या अद्वैत पारमार्थिक नहीं हैं, द्वैताद्वैत ही पारमार्थिक है।

मनुसंहिता का प्रथम अध्याय के सृष्टि प्रकरण द्वारा और द्वादश अध्याय के मोक्ष-सम्बन्धीय उपदेशों द्वारा भी द्वैताद्वैत ही प्रतिपादित हुआ है, प्रसिद्ध टीकाकारों ने व्याख्या में यह प्रदर्शन किया है, यथा—१ अ० ८ श्लोक की टीका में कुल्लुकभट्ट जी ने लिखा है कि--

"अव्याकृतशब्देन पंचभूतबुद्धीन्द्रिय कर्मेन्द्रिय प्राणमनः कर्म-विद्यावासना एवं सूक्ष्मरुपतया शक्तयात्मना स्थिता अभिधीयन्ते, अव्याकृतस्य च ब्रह्मणा सहाभेद स्वीकारात ब्रह्माद्वैतम्। -शक्तयात्मना च ब्रह्म-जगद्रूपतया परिणमते इत्यमयमप्युपद्यते।"

—(श्लोक का) अव्याकृत शब्द के द्वारा पंचभूत, बुद्धीन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण, मन, कर्म, अविद्या और वासना को ही सूक्ष्मशक्ति रूप से स्थितावस्था को कहा जाता है और उस अव्याकृतस्वरुप का ब्रह्म के सहित अभेद स्वीकार हेतु ब्रह्माद्वैत हैं। और ब्रह्म ही स्वीय

शक्ति के द्वारा जगद्रूप से परिणाम प्राप्त होते हैं, इसलिये द्वैत और अद्वैत उभय ही उपपन्न होते हैं।

मनुसंहिता का ही द्वादश अध्याय के ८८ श्लोक की टीका में मेधातिथि जी ने लिखा है कि "अतो वेदान्तोपदिष्टस्य समस्तस्य द्वैताद्वैतविषयस्य सदात्मनो दर्शनं तदात्मज्ञानमभिप्रेतम्।"

—अतः वेदान्तोपदिष्ट समस्त द्वैताद्वैतविषय सदात्मा का दर्शन ही आत्मज्ञान अभिप्रेत हैं।

इन सब शास्त्र वाक्यों के द्वारा यह ही निश्चित होता है कि ब्रह्म और जीवजगत् में भेदाभेद या द्वैताद्वैत सम्बंध ही है यह समस्त शास्त्रों का सिद्धान्त है। केवल भेद (द्वैत) या केवल अद्वैत सर्वशास्त्रों का सिद्धान्त नहीं हो सकता है, इसलिए दक्ष संहिता का पूर्वोद्धृत "न द्वैतंनापिचाद्वैतम्" इस वाक्य के द्वारा केवल द्वैत और केवल अद्वैत को निषेध किया है। और बृहन्नारदीय पुराण का पूर्वोद्धृत "भिन्नाभिन्नस्वरूपेण स्थितो वै परमेश्वर:" इस वाक्य के द्वारा भेदाभेद ही स्पष्टतः उपदिष्ट हुआ है। कारण केवल "द्वैत" कहने से अभेदवाचक और केवल "अद्वैत" कहने से भेदवाचक श्रुति स्मृति इत्यादि वाक्यों को वर्जन करना पड़ता है या गौण कहना पड़ता है। किन्तु "द्वैताद्वैत" सिद्धांत में भेद और अभेद उभय वाचक श्रुति स्मृति वाक्यों का मुख्य रूप से ग्रहण होता है। किसी भी एक का वर्जन करना या गौण कहना नहीं पड़ता है। अतः द्वैताद्वैत सिद्धांत के द्वारा ही समस्त शास्त्रों का यथार्थ सामंजस्य होता है।

प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्म से जीव और जगत् का किस प्रकार भेद है? उत्तर यह है कि ब्रह्म विभु हैं और जीव अणु है' विभु का

अंश अणु जीव ब्रह्म से अभिन्न हो सकता है, परन्तु समान नहीं हो सकता है। अतः जीव और ब्रह्म में भेद सुस्पष्ट है। जगत् भी ब्रह्म का अंश होने से उसी प्रकार जगत् और ब्रह्म में भी भेद सुस्पष्ट है।

जीव और जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं

अभी तक ब्रह्म का चतुष्पाद और भेदाभेदवाद का जिस प्रकार वर्णन किया गया है उससे स्पष्ट हो गया है कि जीव और जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं। इसलिए श्री निम्बार्काचार्य ने कहा है कि—

"सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं त्रिरूपताऽपि श्रुतिसूत्रसाधिता॥"

(वेदान्त कामधेनु)

- चेतनाचेतनात्मक समस्त वस्तु ही ब्रह्मात्मक हैं, यह श्रुति स्मृति में उपदिष्ट हुआ है इसलिए वे सब ही यथार्थ हैं, अतः समस्त वस्तु विषयक विशेष ज्ञान भी यथार्थ (प्रभा) हैं, मिथ्या नहीं। श्रुति और ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म का भोक्ता, भोग्य और नियन्ता ये त्रिविध रूप भी निर्णीत हुए हैं। (अतः ये त्रिरूप यथार्थ हैं) परन्तु अद्वैतवादियों ने कहता है कि एकमात्र ब्रह्म ही हैं, कारण ब्रह्म सत्स्वरूप एक अद्वितीय हैं, जीव ब्रह्म से पृथक कुछ नहीं है और जगत का अस्तित्व ही नहीं है, मिथ्या है—"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।.

उनकी यह उक्ति शास्त्रसम्मत नहीं है, युक्तिसंगत भी नहीं है।। कारण श्रुति ने स्पष्ट ही कहा है कि—"अहं ब्रह्मास्मि"—मैं ब्रह्म हूँ, "तत्त्वमसि"—तुम ब्रह्म हो, "एषोऽणुरात्मा"—यह आत्मा अणु है, "वालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च भागो जीवः"—जीव केशाग्र के

शतभाग का शतभाग सदृश सूक्ष्म हैं। "यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभू द्विजानतः"—जिस समय ज्ञानी पुरुष का समस्त भूत आत्मस्वरूप हो जाते हैं, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म," इस दृश्यमान् जगत् का सब कुछ ब्रह्म है, "ऐतदात्ममिदं सर्वम्"—ये सब कुछ आत्मस्वरूप हैं। "तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्" (श्वे० ४।१०) उनके अवयव समूह के द्वारा ये समस्त जगत् व्याप्त हैं।

यदि जीव ब्रह्म से भिन्न दूसरा कुछ नहीं है और जगत् का अस्तित्व ही नहीं है, मिथ्या है तो ये सब श्रुति वाक्य क्या व्यर्थ है ? इस प्रकार और भी बहुत श्रुतियां हैं, जिससे जीव का ब्रह्म से पृथक् अस्तित्व और जगत् का सत्यता प्रमाणित होता है। "अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि" (ब्र. सू. २।३।४२) इत्यादि ब्रह्म सूत्रों में जीव को ब्रह्म का अंश कहने से भी जीवका पृथक् अस्तित्व और "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र. सू. १।१।२) ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म से जगत् की सृष्टि कहने से जगत् की सत्यता भी कही गइ है। जगत् मिथ्या होने से मिथ्या जगत् की सृष्टि कहना व्यर्थ होता।

गीता में भी भगवान ने कहा है—ममैवाँशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (१५।७) जीवलोक में जीव मेरा ही अंश है, "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" (१०।४२)—मैं ही एकांश द्वारा समस्त जगत् को धारण करके अवस्थित हूं। भगवान् के इस वाक्यों में जीव और जगत् को उनको अंश कहने से जीव का पृथक् अस्तित्व नहीं हैं और जगत् मिथ्या है यह कह नहीं सकते। कारण जीवका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता और जगत् मिथ्या होता

तो उनको अंश कहा नहीं जा सकता। अस्तित्वहीन और मिथ्या वस्तु अंश नही हो सकता।

भेदाभेद (द्वैताद्वैत) वादी श्री निम्बार्काचार्य के मत में जीव जगत् सब ही ब्रह्म का अंश है, ब्रह्म में ही स्थित और विघृत हैं, सब ही ब्रह्मवत् सत्य है। सब ही ब्रह्म का अभिन्न अंश होने से ब्रह्म से पृथक नहीं है — अंशी ब्रह्म से अंश जीवजगत का पृथक् सत्ता न रहने से जीव जगत को लेकर ही ब्रह्म एक अद्वैत हैं। अतः द्वैताद्वैतवादी श्री निम्बार्काचार्य का 'अद्वैत" द्वैत जीव जगत को छोड़ के नहीं है, किन्तु जीवजगत को ब्रह्म का अंगीभूत रूप से एक करके ही। किन्तु अद्वैतवादियों के अद्वैत तत्त्व में जीव जगत का स्थान नहीं है, कारण उनके मत में जीव का पृथक अस्तित्व ही नहीं है और जगत् मिथ्या है। अतः जीव जगत् को छोड़ करके ही अद्वैत तत्वहै। तो भी जीव जगत की सत्ता अस्वीकार न कर सके, व्यवहारिक भाव से सत्ता को स्वीकार करना पड़ा, इससे अद्वैत तत्त्व से विच्युत ही हुए हैं। ब्रह्म से भिन्न करके व्यवहारिक रूप से जीव और जगत् की सत्ता स्वीकार करने से द्वैतवाद ही प्रतिष्ठित होता है। अतः उनका अद्वैतवाद को यथार्थ अद्वैतवाद कहा नहीं जा सकता है। द्वैताद्वैतवाद श्री निम्बार्काचार्य ही यथार्थ अद्वैतवादी हैं कारण उनके द्वैताद्वैतवाद में जीव जगत् वाद नहीं पड़ता है।

वास्तविक भेद और अभेद उभयवाचक श्रुतियां जब हैं तब उभय में से किसी एक को वर्जन नहीं किया जा सकता है

अथवा एक को गौण कहकर दूसरा को मुख्य भी कहा नहीं जा सकता हैं, कारण उससे श्रुति के उभयांश में प्रामाण्य रक्षित नहीं होता है। श्रुति ने जब भेद और अभेद दोनों को ही उपदेश किया है, तब दोनों वाचक श्रुतियां ही तुल्यबल है, अतः भेद और अभेद दोनों को तुल्यरूप से ग्रहण करने से ही श्रुति की मर्यादा और प्रामाण्य रक्षित होता है। अतः श्री निम्बार्काचार्य ने भेद और अभेद दोनों को ही तुल्य रुप से ग्रहण करके जो भेदाभेदवाद को स्थापन किया है, इस में ही श्रुति की मर्यादा और प्रामाण्य सम्पूर्णरूप से रक्षित हुआ है।

भेदवादी और अभेदवादी दोनों ही कहते हैं कि भेद और अभेद (द्वैत और अद्वैत) परस्पर विरुद्ध हैं, इसलिए दोनों एकत्र रह नहीं सकते हैं। अतः भेदाभेद नाम से कोई वाद ही नहीं हो सकता है। परन्तु उनकी यह उक्ति भ्रान्तिपूर्ण है। कारण भेद और अभेद अन्यत्र विरुद्ध होने से भी अंश और अंशी के स्थल में विरुद्ध नहीं है। यह "अंशो नानाव्यपदेशात्" (ब्र० सू० २।३।४२) सूत्र में और उसके निम्बार्क भाष्य उद्धृत करके पहले ही सप्रमाण प्रदर्शित हुआ है। अंश और अंशी में भेदाभेद कैसा है सो विचार करने से यह उत्तम रूप से बोधगम्य हो जायेगा। इसलिए दृष्टान्त के सहित इस विषय को प्रदर्शित किया जा रहा है—शाखा वृक्ष का अंश है, अंश शाखा अंशी वृक्ष से अभिन्न है यह सब कोई स्वीकार करते हैं, कारण शाखा वृक्ष को छोड़कर रह नहीं सकती, शाखा सम्पूर्ण अवयव से वृक्ष का अन्तर्गत है। वह वृक्ष से यदि पृथक् वस्तु होता तो वह वृक्ष की

शाखा ही नहीं हो सकती। अतः शाखा वृक्ष से अभिन्न ही है। परन्तु शाखा वृक्ष से अभिन्न होने से भी उसको वृक्ष का अंश ही कहना पड़ेगा, शाखा सम्पूर्ण वृक्ष नहीं है। वृक्ष शाखा को अतिक्रम करके भी वर्तमान है, वृक्ष शाखा से व्यापक है आकृति आदि से वृहत् है, अतः शाखा वृक्ष से भिन्न भी है। इस प्रकार विचार करने से देखा जाता है कि अंशीरूपी वृक्ष और अंशरूपी शाखा में भेद और अभेद दोनों ही है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म के सहित जीव और जगत् का भी भेद और अभेद दोनों ही कारण जीव और जगत् दोनों ही ब्रह्म का शक्तिरूप अंश हैं। जैसा हमलोगों का एक अखण्ड आत्मा (जीवात्मा) है और इस आत्मा की दर्शन शक्ति, श्रवण शक्ति, मनन शक्ति, १० सेर वस्तु उठाने की शक्ति, २० सेर वस्तु उठाने की शक्ति इत्यादि अनेक प्रकार शक्तियां हैं। जब हमलोग निद्रित रहते हैं तब वे सब शक्तियां आत्मा में लीन हो जाती हैं, जब जाग्रत होते हैं तब वे सब शक्तियां प्रकाशित होती हैं और आत्मा उन सब शक्तियों के द्वारा पृथक् पृथक् कार्य करते हैं, वे शक्तियां जब निद्रित काल में आत्मा में लीन होकर आत्मा के साथ एक हो जाती हैं और जाग्रत काल में अपना अपना पृथक् पृथक् रूप से प्रकाशित होकर पृथक् पृथक् कार्य करती हैं, तब उन शक्तियों को आत्मा का अंश ही कहना होगा, कारण वे सब शक्तियां एक ही आत्मा का विभिन्न रूप से प्रकाश हैं। किसी एक शक्तिरूप अंश को ही सम्पूर्ण आत्मा नहीं कहा जा सकता है। कारण उस शक्ति से भिन्न और भी अनेक शक्तियां आत्मा की हैं, आत्मा उस एक एक शक्तिरूप अंश से व्यापक हैं। अतः उस एक एक शक्ति आत्मा से भिन्न है, फिर उस शक्ति की आत्मा से पृथक्

सत्ता न रहने से आत्मा से वह अभिन्न भी है, अतः आत्मा के सहित उन शक्तियों का भेद और अभेद दोनों ही है। ऐसा ही एक अखण्ड ब्रह्म भी जीव और जगत् रूप अनन्त शक्तियों का आधार है, अनन्त जीव और जगत् रूप पृथक् पृथक् शक्तियां उन अनन्त शक्तिमान् ब्रह्म का अंश होने से ब्रह्म से उन सब शक्तियों की पृथक् सत्ता नहीं है। अतः वे सब जीव और जगत् रूप अंश ब्रह्म से अभिन्न हैं। फिर अंशरूपी पृथक् पृथक् जीव और जगत्मात्र ही अंशोरूपी ब्रह्म नहीं हैं ब्रह्म उन सब से व्यापक हैं, अतः ब्रह्म से जीव और जगत भिन्न भी हैं। इस प्रकार से ब्रह्म के सहित जीव और जगत् का भेद और अभेद दोनों ही है। अतः भेदवादी और अभेदवादी ने जो कहा है कि भेद और अभेद दोनों परस्पर विरूद्ध होने से एकत्र नहीं रह सकते हैं इसलिए भेदाभेदवाद नाम से कोई वाद नहीं हो सकता है उनकी यह उक्ति भ्रान्तिपूर्ण है।

ब्रह्म सगुण भी हैं निर्गुण भी हैं

ब्रह्म जो सगुण और निर्गुण दोनों ही हैं सो ३।२।२३, २।१।२६, २।१।२५ और ३।२।११ ब्रह्म सूत्र का निम्वार्क भाष्य में कहा गया है। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" श्रुति में वर्णित जगदतीत अवस्था के प्रति लक्ष्य करके ब्रह्म को निर्गुण कहा जाता है। परन्तु निर्गुणमात्र कहने से ही ब्रह्म स्वरूप सम्मक् रूप से वर्णित नहीं होता है, कारण "यः सर्वज्ञ सर्ववित्" (मु० १।१।९) और "यतो वा" इमानि भूतानि" (तै० ३।१) इत्यादि श्रुति ब्रह्म को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और जगत्

की सृष्टि स्थिति और लयकर्त्ता कहकर सगुण भी कही है। "ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः"—(श्वे० ६।१६) वे सर्वज्ञ, काल का भी, कर्ता, गुणी (सगुण) और सर्ववित् हैं, "साक्षी, चेता, केवलो निर्गुणश्च" (श्वे० ६।११)—वे साक्षी, चेतन, केवल (एकमात्र अद्वितीय) और निर्गुण हैं, इन वाक्यों में श्रुति स्पष्टरूप से ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों ही कही हैं।

ब्रह्म सूत्र और निम्बार्क भाष्य में भी ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों ही कहा गया है। यथा—

"प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः" (३।२।२२) "तदव्यक्तमाह हि" (३।२।२३) इत्यादि सूत्र में और उनके निम्बार्क भाष्य में निर्गुण और "सर्वोपेता च सा तद्दर्शनात् (२।१।२६) "सर्वधर्मोपपत्तेश्च" (२।१।३५) इत्यादि सूत्र में और निम्बार्क भाष्य में सगुण कहा गया है और "न स्थानतोऽपि परस्योभय लिंगं सर्वत्रहि" (३।२।११) इत्यादि सूत्र में और निम्बार्क भाष्य में सगुण और निर्गुण दोनों ही कहा गया है।

इतिहास पुराणादि शास्त्र में भी ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों ही कहा गया है, जैसा—

"निर्गुणाय गुणात्मने" (महा. भा. शा. प. ३३८ अः ३)

"निर्गुणं गुणभोक्तृ च" (गीता १३।१४)

"गुणमयं निगुणं मामनुवर्णयन्" (भाग. ३।९।३९)

सगुणो निर्गुणः स्वदृक्ः (भाग. ३।३२।३६)

"साकारं च निराकारं सगुणं निर्गुणं प्रभुम्" (ब्र. वै. पु. गणपतिख १३ अः) "गुणभृन्निर्गुणो महान्" (विष्णु सहस्रनाम) इत्यादि।

किन्तु प्रश्न उठता है कि एक ही ब्रह्म सगुण और निर्गुण अर्थात् गुणयुक्त और गुणहीन कैसे हो सकते हैं ?

इस प्रश्न का समाधान के लिये यहां कुछ आलोचना की जा रही है। ब्रह्म सर्वातीत, इन्द्रिय मन का अगोचर हैं, युक्ति तर्क अनुमानादि का भी विषय नहीं हैं। इसलिये भगवान् वेदव्यास ने कहा है—"शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र. सू. १।१।३)—ब्रह्म में शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है। शास्त्र में यह भी कहा गया है कि—"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदाचिन्त्यस्य लक्षणम्" (मनुसंहिता और महाभारत उद्योगपर्व) —जो सब पदार्थ अचिन्त्य हैं उनके विषय में तर्क नहीं करना, जो प्रकृति से परे (अतीत) है सो ही अचिन्त्य है। अतः श्रुति और ब्रह्म सूत्रादि शास्त्र जब अचिन्त्य (प्रकृति का अतीत) ब्रह्म को सगुण और निर्गुण उभय ही कहा है तब युक्ति तर्क के द्वारा उनको केवल सगुण अथवा केवल निर्गुण कहा नहीं जा सकता है।

अब प्रश्न उठता है कि—एक ही ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों कैसे हो सकते हैं ? कारण सगुण का अर्थ गुण विशिष्ट और निर्गुण का अर्थ गुणहीन. जो गुणविशिष्ट हैं सो गुणहीन कैसे हो सकते हैं ? इसका सामंजस्य कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि निर्गुण का अर्थ (१) गुणातीत (२) प्राकृत हेयगुण-हीन। गुणातीत अर्थ का पहले विश्लेषण किया जा रहा है।

गुणातीत इस तरह समझना चाहिये कि ब्रह्म में गुण है किन्तु वे गुणों के अतीत रूप में भी वर्तमान् हैं, वे गुणों में आवद्ध नहीं हैं, वे गुणों का आश्रय हैं। भगवान् ने भी यहीं कहे हैं यथा—

"ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।

मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥" (गीता ७।१२) —जो कुछ सात्विक, राजसिक, और तामसिक पदार्थ हैं, वे सब हम से ही उत्पन्न हुआ है, किन्तु हम उन सब में नहीं हैं किन्तु वे सब हम में ही हैं। अर्थात् हम उन सब का आश्रय होते हुये भी उन सबसे अतीत हैं।

निविष्ट चित्त से विचार करने से देखा जायगा कि—गुण और गुणी दोनों में वस्तुतः कोई विरोध नहीं है, गुणी वस्तु स्वरूपतः गुणातीत होकर भी गुणयुक्त होता है। जगत ब्रह्माश्रित–त्रिगुणात्मक प्रकृतिका परिणाम है, इसलिये गुणात्मक और ब्रह्माश्रित है। उसी गुणात्मक जगत् का आश्रय रूप से ब्रह्म गुणी होने से भी उनका गुणातीत स्वरूप के प्रति लक्ष्य करके ही उनको निर्गुण कहा गया है। गुण को लक्ष्य न करने से भी उनमें गुणनहीं है ऐसा नहीं—गुणात्मक जगत् कभी भी गुणी ब्रह्म को छोड़कर नहीं रह सकता है, अतः ब्रह्म सगुण भी हैं। अतः ब्रह्म के सम्बन्ध में केवल मात्र सगुण दृष्टि या केवल मात्र निर्गुण दृष्टि पूर्ण दृष्टि नहीं है, यह खण्ड दृष्टि है, इसमें ब्रह्म एक ही दिशा में लक्ष्यीभूत होते हैं, पूर्ण दृष्टि या अखण्ड दृष्टि में गुणी ब्रह्म जो गुण समूह को अतिक्रम करके स्वस्वरूप में भी अवस्थान करते हैं, और वे गुण समूह का नियन्ता

हैं यह भी लक्ष्यीभूत होता है। इसलिये पूर्ण ब्रह्मज्ञ की दृष्टि में ब्रह्म सगुण और निर्गुण युगपत् उभयात्मक हैं—ब्रह्म का सगुणत्व और निर्गुणत्व में कालव्यवच्छेद नहीं है—समकाल में ही ब्रह्म सगुण और निर्गुण हैं। अतः जिस प्रकार से व्याख्या की जाय ब्रह्म का स्वरूप और सत्ता एक रूप ही रहता है। केवल मात्र विवक्षा के अनुसार ही उनको कभी सगुण, कभी निर्गुण कहा जाता है।

यहाँ विशेष विचारणीय विषय यह भी है कि—सृष्टि से पूर्व में अक्षर पाद (सत् स्वरूप ब्रह्म) को लक्ष्य करके उनको जो निर्गुण कहा जाता है, उस स्वरूप में भी वे सगुण हैं; कारण उस स्वरूप में भी गुणात्मक जगत् उनमें लीन रहता है एवं अस्थुलत्वादि गुण और ज्ञान बलादि शक्तियां भी वर्त्तमान रहती है। इसलिये ३।३।३३–३४ सूत्र के निम्बार्कभाष्य में अस्थूलत्वादिसहित आनादीदिगुणों को अक्षर विद्या में ग्रहण करने का उपेक्षा है। "परास्य शक्ति विविधैव श्रुयते स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च" (श्वे० ६।८) वाक्य में श्रुति ने भी ब्रह्म का उन विविध शक्तियों को स्वाभाविक कही है। जो गुण या शक्ति स्वाभाविक है वह सदा ही रहता है, अतः अक्षरपाद के निर्गुण अवस्था में भी गुण और शक्ति रहने से (निर्गुण अक्षर ब्रह्म) सगुण भी हैं। अतः सदा के लिये ही ब्रह्म निर्गुण भी हैं और सगुण भी हैं।

और निर्गुण शब्द का "प्राकृत हेयगुण हीन" अर्थ के पक्ष में सगुण का अर्थ है—कल्याण गुणों का आश्रय। इस अर्थ के पक्ष में प्रमाण यह है—

"एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः विशोकः विजिघत्सः अपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः......" (छा० ८।१।५) – यह आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित हैं और सत्यकाम सत्यसंकल्प हैं। यहाँ श्रुति ने पापादि प्राकृत हेयगुण (या दोष) रहित और सत्यकाम सत्य संकल्पादि कल्याण गुणों का आश्रय कहा है।

"जोऽसौ निर्गुण इत्युक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः। प्राकृतैर्हेयसंयुक्तैर्गुणैर्हीनत्वमुच्यते ॥" (प. पु. उ० ख० उत्तर)
इस पद्मपुराण के वाक्य में भी ब्रह्म का प्राकृत हेयगुणहीन कहा गया है।

विष्णु पुराण में भी ब्रह्म को ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज—ये सब कल्याण गुणों का आश्रय और प्राकृत हेय गुणहीन कहा गया है, यथा—

"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्द
वाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥"

(वि० पु० ६।५।७९)

श्री निम्बार्काचार्य जी ने भी कहा है कि—

"स्वभावतोऽपास्त समस्त दोषमशेष कल्याण गुणैकराशिम्।"

(वेदान्त कामधेनु ४)

—वे स्वभावः समस्त दोष रहित और अशेष कल्याणगुणों का आधार हैं।

मोक्ष का साधन

इस संसार में जीव समूह शोक, दुःख भोग में और मोहादि में आच्छन्न रहकर सदा ही कष्ट पा रहे हैं। देह का रोग, जरा, वार्धक्य, मृत्युभय और मृत्यु ये सब तो है ही, अधिकन्तु प्रतिनियत ही प्रियवस्तुओं का और प्रिय व्यक्तियों का विनाश और विच्छेद, अप्रिय वस्तुओं का समागम इत्यादि उसको ग्रास करके रखा है– विद्वान, मूर्ख, धनी, दरिद्र, बलवान, दुर्बल, स्त्री, पुरुष किसी को इन सब दुःख ताप से निष्कृति नहीं है। यह ही जीवों का वन्धन है। इस वन्धन का कारण है आत्मज्ञान का अभाव या अविद्या। आत्मज्ञान लाभ होने से ही इस अविद्या की निवृत्ति होती है और सर्व प्रकार शोक मोह दुःख अशान्ति भय आदि से उत्तीर्ण होकर विगत शोक विगत भी होते हैं और अक्षय परमानन्दमय अवस्था लाभ करते हैं। इस प्रकार अवस्था ही यथार्थ सुख और आनन्द की अवस्था है। इस अवस्था को ही मोक्ष कहा जाता है। "मोक्ष" शब्द का अर्थ है शोक दुःखादि सर्व प्रकार वन्धन से मुक्ति। इस मोक्ष की आत्म ज्ञान लाभ के द्वारा ही प्राप्ति होती है। इसलिये श्रुति कही है–"तरति शोकमात्मवित्" (छा. ७।१।३)–आत्मज्ञानी पुरुष शोक से उत्तीर्ण होते हैं।

वास्तव में यह मनुष्य जन्म दुर्लभ है। और इसका चरम सार्थकता है मोक्षप्राप्ति में। मोक्षप्राप्ति में असाधारण कारण है आत्मज्ञान। आत्मज्ञान श्री गुरू की कृपा से ही होता है। यह बात श्रुति ने स्वयं ही कहा है, यथा– "तद्विज्ञानार्थं स गुरूमेवाभिगच्छेत्" (मुण्डक

१।२।१२)। ब्रह्म ज्ञान लाभ के निमित्त श्री गुरू का ही शरणागत होना। "आचार्यवान् पुरुषों वेद" (छा० ६।१४।२)—जो आचार्य (गुरू) को लाभ किया है ऐसा पुरुष ही ब्रह्म को जान सकता है इत्यादि। "यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः"॥

—श्री भगवान् में और श्री गुरू में एक ही प्रकार पराभक्ति जिनका है उनके अन्दर में ही श्रुति में उपदिष्ट ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होता है। श्री भगवान् भी श्री मद्भागवद्गीता में कहे हैं कि—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिन स्तत्वदर्शिनः॥" (४।३४) —हे अर्जुन! तुम प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा के द्वारा तत्वज्ञान लाभ करो, तत्वदर्शी ज्ञानी पुरुषगण तुमको ब्रह्मज्ञान उपदेश करेंगे। श्री मद्भागवत् में भी उक्त हुआ है कि—

"तस्मात् गुरूं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः॥"

(भा० ११।३।२१–२२)

—अतः परम मंगल जिज्ञासु (आत्मज्ञान लाभेच्छु) व्यक्ति शब्द-ब्रह्म और परब्रह्म विषय में यथार्थ तत्त्वज्ञ उपशमावलम्वी (संसार विरक्त सम्यक् शान्त) गुरू का शरण ग्रहण करेंगे, जिस भागवत धर्म के द्वारा सर्वात्मा और मोक्षपद श्रीहरि तुष्ट हो, गुरू को ही आत्मा और देवता ज्ञान करके अकपट सेवा के द्वारा उनके पास भागवत धर्म

की शिक्षा करेंगे। इस प्रकार सर्वशास्त्र में ही श्री गुरू से ब्रह्म विद्या या आत्मज्ञान लाभ करने का उपदेश है।

परन्तु श्री गुरू का शरणागत होकर और उनसे उपदेश प्राप्त होकर तदनुसार साधन करके ही आत्मज्ञान लाभ करना होता है। श्री गुरू से ब्रह्मतत्त्व का उपदेश श्रवण करके पुनः पुनः (अविश्रान्त) साधन करना चाहिये, कारण "श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यश्च (वृ० ४।५।६) वाक्य के द्वारा श्रुति, श्रवण के पश्चात मनन और निदिध्यासन करने को कही है।" ❀"आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" (ब्र० सू० ४।१।१) सूत्र में और उसके निम्बार्क भाष्य में भी यह ही उक्त हुआ है।

श्री निम्बार्काचार्य उनके वेदान्त कामधेनु ग्रन्थ में कहे हैं कि— "उपासनीयं नितरां जनैः सदा प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः" (श्वेद)। ब्रह्म ज्ञान का प्रतिबन्धक अज्ञानरूप अन्धकार का सम्बन्ध ध्वंस के निमित्त मुमुक्षु, व्यक्तियों को सदा अविच्छेदरुप से ब्रह्म का उपासना करना कर्त्तव्य है। "आप्रमाणात्तत्रापि हि दृष्टम्" (ब्र. सू. ४।१।१२) सूत्र में भी मृत्युकाल पर्यन्त आजीवन साधन करने को उपदेश किया है।

अब ब्रह्म की उपासना किस प्रकार करनी चाहिये उसको संक्षेप में आलोचना की जाती है।

❀ श्री गुरू से ब्रह्मतत्व श्रवण के पश्चात् श्रुत्यादि वाक्यों को अवलम्बन करके युक्ति विचार के द्वारा चिन्तन का मनन कहता है। और मनन करते-करते ब्रह्म स्वरूप का परोक्ष ज्ञान दृढ़ से दृढ़तर होते-होते ब्रह्म स्वरूप का जो अविच्छिन्न ध्यान होता है, इसी को निदिध्यासन कहा जाता है।

ब्रह्म का उपासक के लिये ब्रह्म के सहित उनका अपना एवं समस्त जीव और जगत का क्या सम्बन्ध है, सो जानना एकान्त आवश्यक है। कारण इस सम्बन्ध ज्ञान के विना ब्रह्म के प्रति उपासक का अनुराग (भक्ति) ही नही हो सकता है और अनुराग न होने से उनकी उपासना में निष्ठा नहीं होती है। व्यवहारिक जगत में भी देखा जाता है कि जिनके सहित सम्वन्ध का ज्ञान रहता है, उनके प्रति स्वभावतः आकर्षण होता है एवं प्रीतिपूर्ण या भक्तिपूर्ण व्यवहार स्वतः ही होता है। जैसा सम्वन्ध ज्ञान रहने से ही पिता माता के प्रति भक्ति करता है, पुत्र आदि के प्रति स्नेहपरायण होता है, उन सव का सम्वन्धानुसार सेवा करता है, उनकी प्रसन्नता या प्रीति आदि चाहता है, ऐसा श्रीभगवान् के सहित उपासक का यथार्थ सम्वन्ध ज्ञान होने से—वे मेरा आत्मा है, अतः परमप्रिय और परम आराध्य हैं, ऐसा ज्ञान होने से उनके प्रति स्वभावतः आकर्षण होता है—भक्ति होता है, उनकी प्राप्ति के लिये व्याकुलता आती है और सर्वान्तः करण से आराधना करते हैं। उपासक का उनके सहित अपना और समस्त जीव जगत् का सम्बन्ध ज्ञान होने से जब वे जान सकेंगे कि मैं और ये समस्त जीव जगत् उन्हीं का प्रकाश हैं, उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है, सव ही वे हैं, तव समस्त जीव और जगत् के प्रति भी उनकी प्रीति और प्रेम होता है।

ब्रह्म के सहित वह सम्बन्ध ही है पूर्वोक्त भेदाभेद (द्वैताद्वैत) ब्रह्म के सहित उपासक का अपना और समस्त जीव जगत् का यह भेदाभेद सम्बन्ध का ज्ञान होने से उनका यह भी ज्ञान होता है कि उनकी स्थिति, प्रवृत्ति, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि सम्पूर्ण रूप से ब्रह्म का

आधीन है ब्रह्म उनका आत्मा हैं और समस्त जीव जगत् ब्रह्म का ही रूप हैं।

अतः उपासक को ब्रह्म के सहित अपना और समस्त जीव जगत् का इस भेदाभेद सम्बन्ध का ध्यान करना चाहिये। भेदाभेद सम्बन्ध का ध्यान के द्वारा जितना ही "ब्रह्म ही मेरा आत्मा हैं। ऐसा ज्ञान होता रहेगा इतना ही उनके प्रति प्रियबोध भी होता रहेगा। वस्तुतः ब्रह्म ही जीवों का आत्मा हैं, अतः प्रिय हैं, इसलिये उन प्रिय आत्मा की ही उपासना करना कर्त्तव्य है। अतः श्रुति ने कहा है "आत्मानमेव प्रियमुपासीत" (बृ. १।४।८)—प्रिय आत्मा की ही उपासना करना। आत्मा प्रिय होने से आत्मप्रीति के लिये ही पति, स्त्री, पुत्रादि और जागतिक समस्त वस्तु प्रिय होते हैं; श्रुति ने यह बात स्पष्ट रुप से कहा है, यथा—"न वा अरे पत्यु कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति इत्यादि (बृ. २। ४।५, ४।५।६)—'अरे मैत्रेयि ! पति की प्रीति के लिये पति (पत्नी-का प्रिय नहीं होते हैं, परन्तु आत्मप्रीति के निमित्त ही पति प्रिय होते हैं।

"ब्रह्म ही मेरा आत्मा हैं" ऐसा ज्ञान होने से वे उनका परम प्रिय होते हैं, अतः उपासक का ब्रह्म के प्रति अविच्छेद्दय प्रगाढ़ अनुराग होता है। इसीको ही पराभक्ति कही जाती हैं। इस परा-भक्ति के द्वारा उपासक ब्रह्म साक्षात्कार और मोक्ष लाभ करते हैं। ३।२।२४—२६ संख्यक ब्रह्मसूत्र और उनका निम्बार्कभाष्य द्रष्टव्य)—इसलिये ब्रह्म को आत्मरूप से ध्यान करने का ब्रह्मसूत्र

में उपदेश है यथा—"आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" (४।१।३) —इसका निम्बार्क भाष्य—"एष मे आत्मे" ति पूर्वे उपगच्छन्ति "एष ते आत्मै" ति शिष्यानु पदिशन्ति, अतो, मुमुक्षुणा परमपुरुषः स्वस्य आत्मत्वेन ध्येयः।"—पूर्वकालीन ब्रह्मज्ञ पुरुषों में ये (ब्रह्म) मेरा आत्मा" ऐसा अनुभव किया, "ये तुम्हारा आत्मा हैं" ऐसा शिष्यों को (ध्यान करने का) उपदेश किया। अतः मुमुक्षु का परमपुरुष ब्रह्म को अपना आत्मरूप से ध्यान करना कर्त्तव्य है। अर्थात अपने को ब्रह्म से अभिन्न ज्ञान करके ब्रह्म का चिन्तन करना कर्तव्य है। कारण यह है कि भेद ज्ञान बद्ध जीव का स्वाभाविक ही है, यह ही जीव का बन्धनहेतु है। परन्तु पुनः पुनः अभेद चिन्तन के द्वारा अभेद ज्ञान सिद्ध होता है। अभेद चिन्तन के द्वारा जब उपासक के ज्ञान में ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होता है तब वह उपासक स्वरूपतः ब्रह्म का अंश होने से ब्रह्म के सहित उनका स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध है ऐसा उनका स्वतः ही अनुभव होता है। जो मुक्त होते हैं, वह उस मुक्त स्वरूप में ब्रह्म के सहित स्वाभाविक भेदाभेद रूप में स्थित होते हैं, और तब ही ब्रह्म जो जीव का आत्मा है सो वह अनुभव करते हैं। इसलिये वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र में साधन के समय मुक्तस्वरूप का चिन्तन करने को उपदेश किया है, यथा— "व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत्" (३।३।५२) निम्बार्क भाष्य बद्धाकाराद्विलक्षणो मुक्ताकारः प्रत्यगात्मा साधनकालेऽनुसन्धेयस्तादृरूपस्यैव मुक्तौ भावित्वात्, ध्यानानुरूप परमात्मप्राप्तिवत्।

साधनकाल में प्रत्यगात्मा को (अपने को—स्वीय स्वरूप को) बद्धाकार रूप से विलक्षन मुक्ताकार रूप से चिन्तन (ध्यान) करना

चाहिये। कारण ब्रह्मोपासक (मुमुक्षु) मुक्तावस्था में शुद्ध अपापविद्ध मुक्त स्वरूप को ही प्राप्त होते हैं। साधनकाल में ब्रह्म का जिस रूप को ध्यान किया जाता है साधन का फलस्वरूप में ब्रह्म का उसी रूप को ही प्राप्त हुआ जाता है। साधनकाल में मुक्त स्वरूप का ध्यान करने से मुक्त स्वरूप ही लाभ किया जाता है। अतः साधनकाल में मुक्त स्वरूप का ही ध्यान करना कर्त्तव्य है। श्रुति भी कही है—

"तं यथायथोपासते तदेव भवति" इत्यादि।

यह भक्तियोग का साधन है। इस भक्तियोग के साधन के विषय में १।१।३२ सूत्र और उसके निम्बार्क भाष्य में कहा गया है कि अधिकारि भेद से उपासकों का भेद हेतु ब्रह्मोपासना त्रिविध हैं, यथा—(१) जीव को उसके अन्तर्यामि ब्रह्मरूप से, (२) अचेतन जगत् को उसके अन्तर्यामि ब्रह्म रूप से, और (३) जीव और जगत् उभयातीत ब्रह्मरूप से। यह त्रिविध उपासना ब्रह्मोपासना का त्रिविध अंग है अर्थात् (१) समस्त जगत् को ब्रह्मरूप से चिन्तन ब्रह्मोपासना का प्रथम अंग है (२) जीव समूह को ब्रह्मरूप से चिन्तन द्वितीय अंग और जीव और जगत् उभयातीत (सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सत्यमय और आनन्दमय) रूप से ब्रह्म का चिन्तन तृतीय अंग है। इन त्रिविध अंग में ब्रह्मोपासना पूर्ण है। अधिकार भेद से कोई प्रथम अंग को कोई द्वितीय अंग को और तृतीय अंग को अवलम्बन करेंगे। जो प्रथम अंग को अवलम्बन करके उपासना करेंगे वह भी क्रमशः द्वितीय और तृतीय अंग को उपासना का अधिकार लाभ करेंगे और उसके द्वारा अमृतत्व (मोक्ष) लाभ कर सकेंगे। प्रथम दोनों अंग की उपासना के द्वारा चित्त सम्पूर्ण निर्मल होता है और तृतीय अंग

की उपासना से ब्रह्म का साक्षात्कार और तदनन्तर मोक्ष लाभ होता है। अतः ब्रह्म-साक्षात्कार और मोक्षलाभ के लिये यह त्रिविध भक्ति योग का साधन ही भक्ति योग का पूर्ण साधन है। वास्तविक में ब्रह्म सर्वरूपी होते हुए भी अरूपी हैं सर्वरूप मय होते हुए भी सर्वरूपातीत हैं, प्राकृतिक गुणातीत होते हुए भी सर्व जगत् का नियन्ता और आश्रय हैं। उनको उस प्रकार पूर्ण भक्ति के द्वारा ही लाभ किया जा सकता है। भक्ति ही ब्रह्म प्राप्ति का पूर्ण साधन है। ब्रह्म सूत्र भाष्य में श्री निम्बार्काचार्य ने कहा है कि -"भक्ति योग से ध्यान करने से ब्रह्म प्रकाशित होते हैं--"ज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्त्वः" (मु० ३।१) "भक्त्या त्वनन्यया शक्यः (गीता ११।५४) इत्यादि वाक्य ही इसमें प्रमाण है। जैसा सूर्य, अग्नि इत्यादि दर्पण, काष्ठद्वय घर्षण आदि साधन द्वारा आविर्भूत होते हैं, ऐसा ह। ब्रह्म भक्ति रूप साधन द्वारा प्रत्यक्षी भूत होते हैं। ब्रह्म साक्षात्कार होने से उपासक उनकी समता प्राप्त होते हैं (मोक्ष लाभ करते हैं)। इसमें श्रुति प्रमाण यह है— "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयानिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति। (मु० ३।१।३)

—जब उपासक उज्वल सर्वकर्त्ता ईश्वर ब्रह्मा का उत्पत्तिस्थान पुरुष (ब्रह्म) को दर्शन करते हैं तब पुण्य पाप उभय से मुक्त होकर सम्पूर्ण निर्लिप्त सर्व क्लेशातीत होते हैं और ब्रह्म का साम्य लाभ करते हैं (मोक्ष लाभ करते हैं) (ब्र० सू० ३।२।२४-२६ सूत्रों का निम्बार्क भाष्य द्रष्टव्य)।

ब्रह्मोपासना में यज्ञादि कर्म विद्या का सहकारी है.

ब्रह्मोपासना में विद्या के सहकारी रूप से यज्ञादि कर्म का भी अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है; कारण विद्याविहीन व्यक्ति का कर्म जैसा उसका अभीप्सित फल प्रदान करता है, ऐसा मुमुक्षु के लिये कर्म विद्या के सहकारी रूप से चित्त शुद्धि के द्वारा विद्या को दृढ़ीभूत करता है (ब्र० सू० ३।४।३२-३३) और निम्बार्क भाष्य द्रष्टव्य)। श्री भगवान् भी कहे हैं कि—

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ (गीता १८।५)

धर्माचरण के द्वारा पाप को क्षालित करता है (धर्मेण पापमयनुदति) इत्यादि वाक्यों में श्रुति यज्ञादि के द्वारा ही विद्या का अभिभवकारी पापों का दूर होना और विद्या की अनभिभवता में प्रतिष्ठित होना प्रदर्शित हुआ है (ब्र० सू० ३।४।३५) और निम्बार्क भाष्य द्रष्टव्य)।

अतः उस प्रकार भक्तियोग का साधन के समय विद्या का सहकारी रूप से यज्ञादि कर्मों का भी अनुष्ठान करना चाहिये- यह सिद्धान्त है।

श्रुति ब्रह्मसूत्र और निम्बार्कभाष्यानुसार जिस प्रकार भक्तियोग के साधन द्वारा मोक्ष लाभ होता है सो आलोचित हुआ है। लेकिन इस भक्तियोग का साधन सब से नहीं हो सकता है, जिसका दैन्य है, उसके प्रति श्री भगवान् की कृपा होती है और उस कृपा से ही

श्री भगवान् के प्रति भक्ति होती है। यह बात श्री निम्बार्काचार्य ने कही है, यथा—

"कृपाऽस्य दैन्यादियुजि प्रजायते यया भवेत् प्रेमविशेष लक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधियतेर्महात्मनः सा चोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा ॥
(वेदान्त कामधेनु ९)

—दैन्यादिगुणयुक्त (शरणागत पुरुष में ही श्री भगवान् की कृपा होती है, इस भगवत कृपा से ही सर्वेश्वर परमात्मा में प्रेम विशेष लक्षणा भक्ति होती है। यह ही उत्तमा भक्ति है, एतद्भिन्न और एक भक्ति है, उसका नाम "साधन-भक्ति" है। (यह भक्ति उत्तमा भक्ति का साधन होने से उसको साधन भक्ति कहा जाता है—श्रवण, कीर्तनादि नवधा भक्ति को साधन भक्ति कही जाती है, इस साधन भक्ति के द्वारा क्रमशः उत्तमा भक्ति होती है)

प्रसंगवश श्री निम्बार्काचार्योपदिष्ट मोक्ष का और भी साधन संक्षेप में आलोचना की जाती है।

मोक्ष का साधन शरणागति योग

श्री गुरु और श्री भगवान् में प्रपत्ति—शरणागति भी मोक्ष का एक विशेष साधन है, यह भी श्री निम्बार्काचार्य ने कहा है, यथा—शरणं साधणं विदुः (प्रपन्न कल्पवल्ली-२) उन्होंने इसमें रामायण का प्रमाण दिखाकर कहा है कि—विभीषण मित्रभाव से भगवान् श्री रामचन्द्र जी का जब शरणापन्न हुए तब वानरों में महा कौतूहल और उन सब में परस्पर विवाद उपस्थित हुआ था, वे भगवान् श्री रामचन्द्र

जी को बोले कि विभीषण शत्रु रावण का भाई है, अतः शत्रु है, उसको आश्रय देना एकान्त असंगत है। इसके उत्तर भी भगवान् श्री रामचन्द्र जी ने कहा है कि—

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
मित्रभावेन संप्राप्तं न त्यजेयं कथंचन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतद् विगर्हितम्॥

(प्रपन्न कल्पवल्ली १४।१५)

—एकबारमात्र मेरा शरणापन्न होकर 'मैं तुम्हारा हूँ' कहकर प्रार्थना करने से मैं सकल प्राणी को ही अभय दान करता हूँ, यह मेरा व्रत है। यद्यपि उसका दोष रहे तथापि मित्रभाव से मुझे प्राप्त होने से (शरणग्रहण करने से) मैं उसको किसी प्रकार से त्याग नहीं करता हूँ, उसको त्याग करना सत्पुरूषों के लिये निन्दनीय है।

भगवान् श्री रामचन्द्र जी के इस वाक्य से भी यह प्रमाणित होता है कि श्री भगवान् के शरणागत होने से उस शरणागत के प्रति उनकी विशेष कृपा होती है और उनकी उस कृपा से वह मोक्ष लाभ करता है।

—"मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" (श्वे० ६।१८) इस श्रुति वाक्य में भी मुमुक्षु को श्री भगवान् की शरणागति लेने के लिये कहा गया है। श्री मद्भागवत में भी देखा जाता है करमाजन मुनि ने कहा है कि—

"देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरोनाय मृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्यकर्तम्॥

(भा० ११।५।४१)

— हे राजन ! जो समस्त कर्मों को परिहार करके सर्वात्मभाव से शरण्य श्री भगवान् मुकुन्द के शरणागत होता है, वह देव, ऋषि, प्राणी, कुटुम्ब, मनुष्य और पितृगण के किंकर नहीं होता है और उनसे ऋणी भी नहीं रहता है।

करि मुनि ने कहा है कि—

"भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥
इत्यच्युताङ्घ्रि भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्ति भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन् ततः परांशान्तिमुपैति साक्षात् ॥
(भा० ११।२।४२–४३)

—जैसा भोजनकारी व्यक्ति का प्रति ग्रास में ही भोजन के साथ ही साथ एक ही काल में तुष्टि, पुष्टि और क्षुन्निवृत्ति ये तीन ही होते हैं ऐसा ही शरणागत व्यक्ति की शरणागति काल में ही एक ही संग संसार में विरक्ति, भक्ति और भगवदनुभूति ये तीन ही होते हैं। हे राजन् ! जो इस प्रकार शरणागति के द्वारा भगवान् अच्युत का चरणकमल की भजना करते हैं उन भागवत का संसार में विरक्ति, भक्ति और भगवदनुभूति निश्चित ही होती है।

इस प्रकार से श्री मद्भागवत में भी शरणागति को मोक्ष का साधन कहा गया है। गीता में श्री भगवान् स्वयं कहे हैं कि—

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" (१८।६६)-सर्वप्रकार धर्मविचार परित्याग करके मेरा ही शरण ग्रहण करो। वास्तविक मुमुक्षु साधक निष्काम कर्म योग, ज्ञान योग और भक्ति योग का

साधन पूर्ण रूप से करने पर भी उनको श्री भगवान् का शरणागत होना ही होगा। श्री भगवान् का शरणागत न होने से वे श्री भगवान् की दैवी माया से उत्तीर्ण नहीं हो सकेंगे। और उनकी दैवी माया से उत्तीर्ण न होने से कैसा मोक्ष लाभ कर सकते हैं? साधन के द्वारा जितना भी उन्नत हो, वे अपनी शक्ति से भगवान् की दैवी माया को अतिक्रम नहीं कर सकेंगे, उसके लिये श्री भगवान् का शरणागत होना ही होगा। उनका शरणागत होने से ही उनकी दैवी माया से उत्तीर्ण होकर मोक्ष लाभ कर सकेंगे। इसी बात को श्री भगवान् ने स्पष्ट रूप से कहा है यथा—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥" (गीता ७।१४)

—मेरी यह दैवी माया निश्चय ही अतिक्रम करना दुःसाध्य है, जो मेरा शरणागत होता है वे ही इसको अतिक्रम कर सकते हैं। इस वाक्य में स्पष्ट है कि श्री भगवान् की दैवी माया को अतिक्रम करने के लिये श्री भगवान् की शरणागति लेनी ही पड़ेगी, शरणागति लेने से ही उनकी माया से उत्तीर्ण होकर मोक्ष लाभ किया जा सकेगा। अतः इससे भी प्रमाणित होता है कि मोक्ष के लिये श्री भगवान् की शरणागति लेना एकान्त आवश्यक है और शरणागति मोक्ष का असाधारण कारण है।

आत्मनिक्षेप को ही शरणागति कहती है—"प्रपत्तिश्चात्म-निक्षेपः" (प्रपन्नवल्ली ४), और आत्मा और आत्मीय का (अपना

जो कुछ है सब का) भार समर्पण को आत्मनिक्षेप कहा जाता है—"आत्मात्मीयभरन्यासो ह्यात्मनिक्षेप उच्यते" (प्रपन्न सुरतरूमंजरी) इस आत्मनिक्षेप का पांच अंग है, यथा—(१) आनुकूल्य का संकल्प (२) प्रातिकुल्य का वर्जन (3) भगवान् मुझे रक्षा करेंगे यह विश्वास (४) भगवान् को रक्षकत्व में वरण (५) कार्पण्य (गर्वहानि) ।❀

इन सब का विस्तृत वर्णन करने से लेख बहुत बड़ा हो जायगा इसलिये उससे निवृत्त हो रहा हूं ।

मोक्ष का साधन—गुर्वाज्ञानु वृत्ति योग

जो श्रीगुरू के पास आत्म स्वरूप का श्रवणान्तर निरन्तर मनन, निदिध्यासन में तथा भक्ति योग आदि में और शरणागति में भी असमर्थ हैं वह श्री गुरू में आत्मसमर्पण करके सर्व प्रकार बिचार को छोड़ कर केवल मात्र श्री गुरु का आदेश को पालन करते रहे। इसको गुर्वाज्ञानु वृत्ति योग कहा जाता है। श्री निम्बार्काचार्य ने इस गुर्वाज्ञानुवृत्ति योग को भी मोक्ष का एक साधन कहा है। उन्होंने कहा है कि—

"एवं गुरोः प्रेषुतमो ह्यात्मन्यासी दृढ़व्रतः । सर्वबन्ध विनिर्मुक्तः सायुज्यमधिगच्छति ।"—इस प्रकार से दृढ़व्रत होकर जो श्री गुरु

❀ आनुकुल्यस्य संकल्पः प्रातिकुल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्व वरणं तथा ॥
पंचमं कृपणत्वंच पंचरात्रविदो विदुः ॥ (प्रपन्न कल्पवल्ली
११—१२)

में आत्म समर्पण करते हैं वे श्री गुरु का परम प्रियतम होते हैं एवं सर्वबन्धन से सम्पूर्ण रूप से मुक्त होकर ब्रह्म का सायुज्य (मोक्ष) लाभ करते हैं—इत्यादि इत्यादि।

वर्तमान काल में यह गुर्वानुज्ञानुवृत्ति ही सर्वश्रेष्ठ और सहज साधन है। इसलिये मेरा पुज्यपाद श्री गुरुदेव श्री १०८ स्वामी सन्त दास जी महाराज कहे हैं कि—"यथार्थ कल्याणार्थी पुरुष का कर्त्तव्य यह है कि सद् गुरु का शरणापन्न होकर अपने को सम्पूर्ण रूप से उनका अधीन कर दें और कुछ भी विचार न करके उनका आदेश मात्र प्रतिपालन करना जीवन का एकमात्र कर्त्तव्य ऐसा दृढ़ निश्चय करे। ऐसा जो कर सकेंगे वे तत्क्षणात् कर्मबंधन से मुक्त होंगे, सर्वविध कर्म में निर्लिप्त होंगे एवं देहान्त में मोक्ष प्राप्त होंगे। अपने में कर्तृत्व बुद्धि जिनकी है, जो अपने सामर्थ्य से साधन करके पारगामी होंगे ऐसा विचार करते हैं वे अदूरदर्शी प्राकृत शिष्य हैं। उनकी कृत कृत्यता लाभ करना अत्यंत कठिन है। वर्त्तमान काल में जीव पांच मिनिट काल भी चित्त को स्थिर रखने को समर्थ नहीं होता है। उसके द्वारा धारणा, ध्यान, समाधि किस तरह से सम्पन्न हो सकता है ?"

अतः उक्त प्रकार गुर्वानुज्ञानुवृत्ति योग अवलम्बन करके जो निर्विचार से केवलमात्र श्री गुरु का आदेश पालन में अपने को काय-मनोवाक्य से नियुक्त करते हैं वह श्री गुरु की कृपा से अति शीघ्र मोक्ष लाभ करते हैं। इसलिये श्री निम्बार्काचार्य ने गुर्वानुज्ञानुवृत्ति को मोक्ष का साधन कहे हैं।

मोक्ष स्वरूप

ब्रह्मोपासक ब्रह्मज्ञान लाभ होने के पश्चात् जबतक स्थूल देह में वर्त्तमान रहते हैं (जीवित रहते हैं) तबतक वे निर्लिप्त भाव से आवश्यकीय कर्म करते हैं, उनका प्रारब्ध भिन्न अन्य समस्त कर्म (ब्रह्मज्ञान लाभ से पूर्व के कृत कर्म) नाश प्राप्त होते हैं और ब्रह्मज्ञान लाभ के पश्चात् कृत पाप पुण्य कर्म में वे निर्लिप्त होते हैं एवं देहपात होने के पश्चात् मुक्त होते हैं (ब्र. सू. ४।१।१३–१४ और निम्बार्क भाष्य द्रष्टव्य)। मोक्षस्वरुप प्रसंग में ब्रह्मसूत्र ४ अः ४ पाद में और निम्बार्क भाष्य में वर्णित हुआ है कि ब्रह्मज्ञानी पुरूष का जब देहान्त होता है तब वे अर्चिरादि मार्ग में गमन करके ❀ स्वीय स्वाभाविक चित्स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर ब्रह्मभावापन्न होते हैं। वे अपहतपाप्मा (निष्पाप), जरारहित, मृत्युरहित, शोकहीन, क्षुधा-तृष्णारहित, सत्यकाम, सत्य संकल्प होते हैं। वे जन्मादि विकारशु-न्य होते हैं और अपने को स्वाभाविक अचिन्त्य अनन्त गुणसागर सर्वविभूति सम्पन्न ब्रह्मस्वरूप ही अनुभव करते हैं। ब्रह्म आनन्द स्वरुप होने से वे भी आनन्दमय हो जाते हैं और अपने स्वरूपगत चित्त के द्वारा उस आनन्द को अविच्छिन्न भाव से सर्वदा अनुभव करते हैं। वे स्वीय संकल्प के अनुसार शरीर धारण करके भगवद्-लीलारस भोग करने सकते हैं, अशरीर भी रह सकते हैं। स्वप्नकाल में भगवत सृष्ट शरीरादि द्वारा बद्ध जीव का जैसा भोग होता है ऐसा

❀ ब्रह्मज्ञानी पुरुष अर्चिरादि मार्ग में गमन करते हैं सो ४।३।१ ब्रह्मसूत्र के निम्बार्क भाष्य में वर्णित हुआ है।

मुक्तपुरुष का स्वसृष्ट शरीरादि के अभाव में भी भोग हो सकता है। जगत् सृष्टयादि व्यापार व्यतीत अपर सर्वविध ऐश्वर्य मुक्त पुरुषों का होता है। सम्यक् जगत् की सृष्टि सामर्थ्य जो एक मात्र ब्रह्म का ही है, सो "स कारणं कारणाधिपाधिपः" इस श्रुति में और

"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्"

इस भगवद्वाक्य में स्पष्ट रूप से उक्त हुआ है। "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इस श्रुति वाक्य में मुक्तपुरुष का ब्रह्म के सहित केवलमात्र भोग विषय में ही समता रहने का उपदेश है, सामर्थ्य में समता रहने का उपदेश नहीं है।

मुक्तपुरुषों का संसार में पुनरागमन नहीं होता है। वे आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त होकर सदा के लिये आनन्दमय हो जाते हैं। "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्धा आनन्दी भवति"। यह ही मोक्ष है।

———

उपसंहार

अभीतक निम्बार्क वेदान्त का संक्षिप्त सार, वर्णन किया गया है, अब प्रणिधान योग्य विषय यह है कि निम्बार्क वेदान्त में श्रुत्युक्त भेद-अभेद (द्वैत-अद्वैत) बहुत्व-एकत्व, मूर्तत्व-अमूर्तत्व, सधर्मकत्व, निधर्मकत्व, सविशेषत्व निर्विशेषत्व, सगुणत्व-निर्गुणत्व, जीवजगद्रूपत्वतदुभयातीतत्व इत्यादि विरोध रूप से प्रतीयमान तत्त्व-समूह का अति उत्तम रूप से समाधान और समन्वय हुआ है।

मोक्षलाभ के लिये श्री निम्बार्काचार्य जी ने जो भक्ति और प्रेम का साधन उपदेश किया है वह साधन सरस है, इस साधन के समय भी साधक का नव नव रस (आनन्द) का अनुभव होता रहता है, कभी नीरस (निरानन्द) नहीं होता है। उन्होंने यज्ञादि कर्म तथा वर्णाश्रम धर्मों का अनुष्ठान भी विद्या का सहकारी रूप से करने को कहा है।

श्री निम्बार्काचार्य जी ने यह भी कहा है कि—

श्री भगवान् कारुण्य, वात्सल्य, माधुर्यादि अनन्त कल्याण गुणों का सागर हैं, प्रत्येक जीव उनका अपना परम प्रिय जन है, जीवों के प्रति उनकी दया का अन्त नहीं है। अतः निश्चिन्त और निर्भय होकर उनकी शरण ग्रहण किया जा सकता है उनमें आत्मसमर्पण किया जा सकता है, करने से वे उनको आत्मसात् करके परमानन्दमय मोक्ष को दान करते हैं। श्रुति भी कही है —

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्।"

श्री निम्वार्काचार्य जी के मत में जीव श्री भगवान् का अंश होने से अंशी श्री भगवान् के सहित अंश जीव का स्वाभाविक सुगभीर प्रेम का सम्बन्ध रहा है, जैसे, मातृगर्भस्थ सन्तान का माताजी के साथ स्वाभाविक सुगंभीर प्रेम का सम्बन्ध है—माता का उदरस्थ खाद्यों का रस के द्वारा ही वह जैसा परिपुष्ट होता है, माता का जीवन के द्वारा ही वह जीवित रहता है वैसा ही जीव श्री भगवान् के उदरस्थ रहकर के ही, उनके उदरस्थ खाद्यों (जल, वायु, अन्नादि) का रस के द्वारा ही परिपुष्ट होता है, उनका जीवन के द्वारा ही वह-जीवित रहता है। श्री भगवान् के सहित जीव का ऐसा स्वाभाविक सुगभीर प्रेम का सम्बन्ध रहने से ही वह निश्चिन्त और निर्भय होकर उनकी शरण ग्रहण करके अक्षय आनन्द प्राप्तिरूप मोक्षलाभ कर सकता है।

जीवमात्र ही अनन्त काल पर्यन्त वर्तमान रहकर अच्युत अनन्त आनन्द को भोग करना चाहता है, इसलिये कैसा उस अच्युत अनन्त आनन्द लाभ किया जाय उसी का अन्वेषण कर रहा है। श्री निम्वार्काचार्य जी ने कहा है कि—"ब्रह्म आनन्द स्वरूप हैं, मोक्षावस्था में उनको लाभ करके जीव उस अच्युत अनन्त आनन्द को भोग करता है। मोक्षावस्था में जीव की सत्ता का लोप नहीं होता है, कारण जीव नित्य, चिरस्थायी है। अतः वह चिरकाल वर्तमान रहकर उस अच्युत अनन्त आनन्द को अनन्तकाल अविच्छेद रूप से भोग करता है वह आनन्दमय हो जाता है। श्रुति ने यही कही है

यथा—"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्' "रसो वै स. रसं ह्येवायं लब्धा आनन्दी भवति" इत्यादि।

इस प्रकार से विचार किया जायगा तो देखा जायगा कि श्री निम्बार्क वेदान्त में भक्ति प्रेमादि मोक्षसाधन और कर्म, धर्म, दार्शनिकता इत्यादि सर्वविषय का ही अपूर्व समन्वय हुआ है। य निम्बार्क वेदान्त का महान् वैशिष्ट है।





